धर्मदृष्टि से समाज के तीन स्तम्भ

(शासन, वाणिज्य और धर्मार्थ क्षेत्र)

शाम सुन्दर रेहलो

अस्वीकरण

इस पुस्तक में प्रस्तुत विचार लेखक के शास्त्रों की व्याख्या, शोध और दार्शनिक चिंतन पर आधारित हैं। यद्यपि पूरी सावधानी रखी गई है, फिर भी यह पुस्तक किसी प्रकार की कानूनी, आर्थिक या पेशेवर सलाह नहीं है। पाठकों से निवेदन है कि यहाँ दिए गए उपदेशों या मार्गदर्शन को अपनाते समय अपनी समझ का प्रयोग करें और आवश्यक होने पर संबंधित विशेषज्ञों या प्राधिकरणों से परामर्श लें। इस पुस्तक की सामग्री के आधार पर किए गए किसी भी कार्य के लिए लेखक और प्रकाशक उत्तरदायी नहीं होंगे।

प्रकाशक की टिप्पणी

यह पुस्तक अनेक दशकों तक आध्यात्मिक शास्त्रों, ग्रंथों और परंपराओं—जैसे वेद, उपनिषद, संतमत, सूफी और भक्ति साहित्य—के अध्ययन और चिंतन का परिणाम है। इसका उद्देश्य धर्म की गहराई, समाज में सेवा और दान क्षेत्र की भूमिका, तथा व्यक्तियों और संस्थाओं की नैतिक व सामाजिक जिम्मेदारियों को समझाना है। इस पुस्तक का संदेश है कि लोग निःस्वार्थ सेवा, सामाजिक न्याय और आध्यात्मिक उत्थान की ओर प्रेरित हों और सनातन सिद्धांतों को जीवन में उतारें।

प्रकाशक: रेहलोन पब्लिकेशन्स
लेखक: शाम सुन्दर रेहलोन
संपर्क: rehlon@yahoo.com | +91 9417038734
पता: एस.ए.एस. नगर (मोहाली), पंजाब, भारत

विषय-सूची

भूमिका..... 3

1. धर्म: सनातन, शाश्वत..... 6

2. भगवद्गीता में धर्म के प्रकार..... 9

3. समाज का पहला स्तंभ – शासन..... 16

4. समाज का दूसरा स्तंभ – वाणिज्य क्षेत्र 22

5. समाज का तीसरा स्तंभ – धर्म एवं परोपकार क्षेत्र 27

6. समाज के तीन स्तंभ और धर्म की पवित्रता..... 34

7. उपसंहार: भक्त का धर्म..... 40

भूमिका

हर युग में सभ्यता की आत्मा इस बात पर निर्भर करती है कि वह धर्म—अर्थात् शाश्वत नीति, न्याय और करुणामय व्यवस्था—के साथ कितनी संगति रखती है। धर्म केवल कोई धार्मिक या दार्शनिक कल्पना नहीं है, बल्कि वह जीवित सिद्धांत है जो व्यक्ति के आचरण और समाज की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था को संभाले रखता है। अलग-अलग संस्कृतियों और परंपराओं में धर्म ही वह अदृश्य ढांचा है जिस पर मानव जीवन टिका हुआ है। परंतु आधुनिक समय में यह पवित्र सिद्धांत अक्सर कमजोर कर दिया गया है, गलत समझा गया है या नज़रअंदाज़ कर दिया गया है—और इसे केवल रीति-रिवाज, परंपरा या व्यक्तिगत नैतिकता तक सीमित कर दिया गया है।

यह पुस्तक धर्म को पुनः स्मरण कराने और नये रूप में स्थापित करने का आह्वान है। इसमें धर्म को केवल आध्यात्मिक जीवन का नहीं, बल्कि समाज की संस्थाओं और व्यवस्थाओं का भी आधार माना गया है। इस विचार के केंद्र में सभ्यता के तीन प्रमुख स्तंभ हैं—शासन (Governance), वाणिज्य (Commerce), और सेवा/दान क्षेत्र (Charity)। इन तीनों का एक-एक पवित्र धर्म है—राज्य धर्म शासकों और नीति-निर्माताओं का, वैश्य धर्म आर्थिक उद्यम का, और सेवा धर्म धार्मिक व परोपकारी संस्थाओं का। जब ये स्तंभ धर्म से जुड़े रहते हैं, तो समाज में न्याय, समृद्धि और आध्यात्मिकता पुष्पित-पल्लवित होती है।

लेकिन जब ये धर्म से भटक जाते हैं, तो शोषण, असमानता और नैतिक पतन जड़ पकड़ लेते हैं।

भगवद गीता और अन्य शाश्वत शास्त्रों से प्रेरणा लेते हुए, यह पुस्तक विचार और व्यावहारिक मार्गदर्शन दोनों प्रस्तुत करता है। इसमें बताया गया है कि शासन कैसा होना चाहिए जो समाज की रक्षा करे और उसे ऊपर उठाए, व्यापार किस प्रकार सामूहिक कल्याण के लिए हो, और धार्मिक संस्थाएँ करुणा व निःस्वार्थ सेवा का रूप कैसे धारण करें। शास्त्रीय दृष्टि, समकालीन विवेचना और आध्यात्मिक समन्वय के माध्यम से यह पुस्तक नेताओं, नागरिकों और संस्थाओं की जिम्मेदारियों को उजागर करती है।

सात अध्यायों में विभाजित यह पुस्तक पहले धर्म के सार्वभौमिक और आध्यात्मिक पक्ष को स्पष्ट करती है, फिर प्रत्येक स्तंभ को विस्तार से गीता और अन्य शास्त्रों की दृष्टि से समझाती है। छठा अध्याय इन सभी अंतर्दृष्टियों का समन्वय करता है और यह दिखाता है कि तीनों स्तंभ आपस में कैसे जुड़े हैं तथा धर्म की उपेक्षा से क्या परिणाम सामने आते हैं। सातवाँ अध्याय एक अंतिम आह्वान है— साधकों, भक्तों और विशेष रूप से सेवादारों के लिए, जिन्हें परोपकारी संस्थाओं का संचालन सौंपा गया है। यह जागरूकता, नैतिक नेतृत्व और सचेत भक्ति का संदेश देता है और हमें स्मरण कराता है कि सच्ची सेवा केवल अंधी आज्ञाकारिता नहीं है, बल्कि धर्मनिष्ठ जिम्मेदारी है।

यह केवल दार्शनिक पुस्तक नहीं है, बल्कि धर्म की शाश्वत ज्योति से प्रज्वलित एक दीपक है, जो नीति-निर्माताओं, उद्योगपतियों, आध्यात्मिक संरक्षकों और साधकों को संतुलन, ईमानदारी और सेवा

की राह दिखाता है। आशा है कि यह पुस्तक केवल समझ को ही नहीं, बल्कि कर्म को भी प्रेरित करेगा और समाज व परमात्मा की सेवा में धर्ममार्ग पर चलने वालों के लिए एक प्रकाशस्तंभ बनेगी।

1. धर्म: सनातन, शाश्वत

धर्म मानवता की आध्यात्मिक चर्चा में सबसे गहरा और साथ ही सबसे अधिक गलत समझा जाने वाला विषय है। आधुनिक समय में बहुत से लोग धर्म को केवल किसी धर्म-विशेष, सामाजिक नियम या सांस्कृतिक परंपरा के समान मान लेते हैं। हिंदुओं में भी यह आम भ्रांति है कि "हिंदू धर्म ही सनातन धर्म है," यानी केवल हिंदू होने से ही कोई शाश्वत सत्य के साथ जुड़ जाता है। किंतु शास्त्रों, इतिहास और आत्मिक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होता है कि धर्म शाश्वत, सार्वभौमिक और अपरिवर्तनीय है, जबकि धर्म-व्यवस्थाएँ, जिनमें हिंदू धर्म भी शामिल है, समय और समाज के अनुरूप बनी हुई मानवीय व्यवस्थाएँ हैं।

"सनातन" का अर्थ है शाश्वत, नित्य, जो न आदि है न अंत और कभी नष्ट नहीं होता। इसलिए सनातन धर्म किसी मनुष्य द्वारा बनाया गया नहीं है और न ही यह किसी जाति, संस्कृति या इतिहास तक सीमित है। यह अस्तित्व का आंतरिक नियम है, सत्य और न्याय का मार्ग है, और आत्मा को आत्मसाक्षात्कार तथा ब्रह्मांड के साथ सामंजस्य की ओर ले जाने का साधन है। सनातन धर्म का सार है—सत्य, करुणा, अहिंसा, आत्मसंयम, वैराग्य, भक्ति और आत्मज्ञान। ये सिद्धांत किसी धार्मिक कर्मकांड या सामाजिक नियम पर आधारित नहीं, बल्कि सार्वभौमिक हैं—सभी प्राणियों, सभी कालों और सभी स्थानों पर समान रूप से लागू। गीता में भगवान कहते हैं—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"—यानी सभी सापेक्ष कर्तव्यों को छोड़कर परमात्मा की शरण में आओ। यह बताता है कि परम धर्म किसी भी संकीर्ण या सामाजिक दायित्व से परे है।

धर्म और धर्म-व्यवस्थाओं (Religions) में अंतर स्पष्ट है। धर्म सनातन और अपरिवर्तनीय है, जबकि धर्म-व्यवस्थाएँ समय और समाज की आवश्यकताओं के अनुसार बनी ऐतिहासिक संरचनाएँ हैं। फिर भी, धर्म का सार्वभौमिक स्वरूप सभी प्रमुख धर्मों में झलकता है। ईसाई धर्म प्रेम, क्षमा और सेवा पर बल देता है; इस्लाम सत्य, न्याय और ईश्वर की आज्ञा पालन पर; बौद्ध धर्म सही आचरण, ध्यान और दुख से मुक्ति पर; और सिख धर्म सत्य, भक्ति और निःस्वार्थ सेवा पर। ये सभी मूलतः सनातन धर्म के ही सिद्धांत हैं, जो अलग-अलग रूप और संस्कृति के अनुसार व्यक्त हुए हैं।

हिंदू धर्म, जो सबसे प्राचीन जीवित धर्म है, भारतीय सभ्यता से उत्पन्न हुआ और वेदों, उपनिषदों, गीता, महाकाव्यों और पुराणों की परंपरा को संजोए हुए है। यह समृद्ध आध्यात्मिक और सांस्कृतिक धरोहर का वाहक है। लेकिन हिंदू धर्म, चाहे जितना प्राचीन हो, ऐतिहासिक है और समय के साथ बदलता रहा है। इसके अनुष्ठान, संप्रदाय और सामाजिक नियम हजारों वर्षों में रूपांतरित होते रहे हैं। जबकि सनातन धर्म शाश्वत और अडिग है। इसलिए यह मानना कि हिंदू धर्म ही सनातन धर्म है, केवल साधन और लक्ष्य को ग़लत रूप से एक समझ लेना है। हिंदू धर्म ने सत्य, अहिंसा, करुणा और आत्मसाक्षात्कार जैसे सनातन धर्म के तत्वों को अपनाया, पर ये केवल हिंदू धर्म तक सीमित नहीं हैं।

धर्म अलग-अलग रूपों में प्रकट होता है—जैसे स्वधर्म, वर्णधर्म और आश्रमधर्म—लेकिन इसके मूल में वही शाश्वत नियम है: सत्य, नैतिक आचरण और आत्मोन्नति। आत्मिक रूप से जाग्रत व्यक्ति देखता है कि सभी धर्मों की गहराई में वही सनातन सत्य है, भले ही उनके अनुष्ठान,

ग्रंथ या परंपराएँ अलग हों। सार यही है: धर्म एक है और सनातन है; धर्म-व्यवस्थाएँ अनेक हैं और समय-सीमित।

सनातन धर्म अस्तित्व, नैतिकता, आत्मिक विकास और आत्मा की परमात्मा से एकता का नियम है। यह किसी एक धर्म, जाति या सभ्यता तक सीमित नहीं है और न ही यह मनुष्य द्वारा बनाया गया है। हिंदू धर्म ने इस शाश्वत सत्य के अनेक पहलुओं को व्यक्त किया, लेकिन अन्य धर्मों ने भी सत्य, प्रेम, धर्मनिष्ठा, भक्ति और मुक्ति जैसे सिद्धांतों को अपनाया है, क्योंकि ब्रह्मांड का आधारभूत नियम एक ही है और शाश्वत है।

निष्कर्षतः, धर्म एक है—सनातन, सार्वभौमिक और अपरिवर्तनीय। धर्म-व्यवस्थाएँ अनेक हैं—काल, समाज और संस्कृति के अनुसार बदलती हुई। हिंदू धर्म प्राचीन और आध्यात्मिक रूप से समृद्ध अवश्य है, लेकिन यह धर्म का स्वरूप है, स्वयं धर्म नहीं। सनातन धर्म किसी एक लेबल, कर्मकांड या संस्कृति तक सीमित नहीं, बल्कि आत्मा को आत्मसाक्षात्कार, मुक्ति और परमात्मा से एकत्व की ओर ले जाने वाला शाश्वत नियम है। यही धर्म है—सनातन, अपरिवर्तनीय और सार्वभौमिक।

2. भगवद्गीता में धर्म के प्रकार

भगवद्गीता धर्म को केवल नियमों या अनुष्ठानों का समूह नहीं मानती, बल्कि उसे उस मूलभूत नियम के रूप में प्रस्तुत करती है जो ब्रह्माण्ड की नैतिक, आचारिक और आध्यात्मिक व्यवस्था का संचालन करता है। गीता धर्म को वह मार्गदर्शक सिद्धांत मानती है जो मानव आचरण, समाज और शासन को आकार देता है और यह स्पष्ट करती है कि कौन-से कर्म जीवन को स्थिरता देते हैं और कौन-से विनाश की ओर ले जाते हैं। गीता के अनुसार धर्म व्यक्तिगत भी है और सामूहिक भी, जिसमें व्यक्ति के स्वभाव, स्थिति और उद्देश्य के अनुसार कर्तव्य और जिम्मेदारियाँ आती हैं।

शास्त्र विशेष रूप से इस बात पर बल देता है कि अपने कर्तव्यों का पालन करना अनिवार्य है:

"स्वधर्मो विगुणः श्रेयान् परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥" (गीता 3.35)

अर्थ: अपना धर्म, चाहे दोषयुक्त ही क्यों न हो, दूसरे का धर्म उत्तम रूप से निभाने से श्रेष्ठ है। अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारी है, पराए धर्म का पालन भयावह होता है।

धर्म का मूल उद्देश्य व्यक्तिगत स्वार्थ और दूसरों के कल्याण के बीच संतुलन बनाना है। सच्चा संतोष स्वार्थी लाभ से नहीं, बल्कि अपने स्वधर्म और व्यापक ब्रह्माण्डीय व्यवस्था के साथ सामंजस्य से प्राप्त होता है।

गीता कई परस्पर जुड़े धर्मों की व्याख्या करती है।

स्वधर्म (Svadharma): यह व्यक्तिगत कर्तव्य है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव, क्षमता और सामाजिक भूमिका के अनुरूप कर्म करना चाहिए। गीता कहती है:

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥" (गीता 2.47)

अर्थ: तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, उसके फलों में कभी नहीं। तुम कर्मफल के हेतु मत बनो और अकर्म में भी आसक्त मत हो।

यह सिद्धांत बताता है कि प्रत्येक मनुष्य का एक विशिष्ट उद्देश्य है और इन जिम्मेदारियों को आसक्ति-रहित होकर निभाना ही व्यक्तिगत विकास और सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखता है।

अर्थ धर्म (Artha Dharma): धन और संसाधन का धर्म यह सिखाता है कि उन्हें धर्मसम्मत रूप से अर्जित किया जाए और जीवन-निर्वाह, परिवार-पोषण तथा समाज-कल्याण के लिए उपयोग किया जाए।

राज्य धर्म (Rajya Dharma): शासन का धर्म यह है कि नागरिकों की रक्षा करे, न्याय स्थापित करे और सामाजिक व्यवस्था बनाए रखे। शासक के लिए स्मरणीय है कि शासन शक्ति नहीं, सेवा है।

"राज्यं धर्मं समाचरेत् राजा धर्मात् क्षमा भवेत्"

अर्थ: राजा का कर्तव्य है राज्य में धर्म की स्थापना करना, दुर्बलों की रक्षा करना और न्यायसंगत व्यवस्था करना।

गीता शासन के धर्म की व्याख्या करती है:

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥" (गीता 3.9)

अर्थ: यज्ञ (समष्टि के कल्याण) के लिए किए गए कर्म बंधन नहीं बनाते, परन्तु स्वार्थ के लिए किए गए कर्म बंधनकारी होते हैं। इसलिए हे कौन्तेय, तू आसक्ति रहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर।

कर्म धर्म (Karma Dharma): अर्थात धर्मानुसार कर्म। इसका आशय यह है कि व्यक्ति अपने आचरण को निःस्वार्थ बनाए, फल की आसक्ति त्यागे और अनुशासन तथा सामंजस्य बनाए।

सेवा धर्म (Seva Dharma): यह धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं का धर्म है, जो आध्यात्मिक व नैतिक सिद्धांतों को सेवा के रूप में परिणत करती हैं। इन्हें समाज से धन, आस्था और संसाधन मिलते हैं और उनका धर्म है इन्हें निःस्वार्थ भाव से जरूरतमंदों और वंचितों की सेवा में लगाना।

गीता कहती है कि दैवी गुण ही ऐसी सेवा का आधार हों:

"अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥" (गीता 16.1–3)

अर्थ: निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, दान, संयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता; अहिंसा, सत्य, क्रोध-त्याग, शांति, करुणा, लोभ का अभाव, कोमलता, क्षमा, धैर्य, शुचिता, द्वेष-रहित भाव और अहंकार का अभाव—ये सब दैवी सम्पदा के लक्षण हैं। इन्हीं गुणों पर सेवा आधारित होनी चाहिए।

किन्तु जब धार्मिक संस्थाएँ अपने धर्म से भटक जाती हैं और शोषण, धन-संचय या सत्ता की चाह में पड़ जाती हैं, तो वे समाज का विश्वास तोड़ती हैं और नैतिक आधार को कमजोर करती हैं। आज धर्म और दान क्षेत्र में सबसे बड़ी चुनौती यही है—कपटी गुरु और बेईमान संचालक, जो लोगों की आस्था और उदारता का शोषण करते हैं। यह प्रवृत्ति समाज के विश्वास को तोड़ती है और निराशा तथा भ्रष्टाचार को जन्म देती है।

आज के समय में सेवा और दान के क्षेत्र (Charity Sector) के सामने केवल दिशा-भ्रम ही नहीं, बल्कि कई गंभीर खतरे भी हैं। कुछ नकली गुरु, पाखंडी और बेईमान लोग आम लोगों की आस्था और उदारता का गलत फायदा उठा रहे हैं। वे अपने आपको धार्मिक या आध्यात्मिक नेता बताकर भ्रष्टाचार, आर्थिक गड़बड़ी और कभी-कभी आपराधिक कामों में भी लिप्त रहते हैं। धर्म का मुखौटा पहनकर वे धन कमाने या सत्ता पाने का साधन बना लेते हैं। ऐसे लोग भोले-भाले श्रद्धालुओं से झूठे बहाने बनाकर दान करवाते हैं और ईश्वर-प्रसाद या आध्यात्मिक

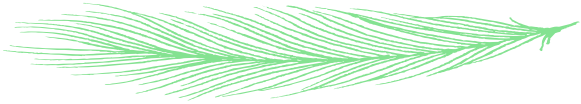

लाभ के नाम पर उन्हें धोखा देते हैं। इस प्रकार का शोषण न केवल धार्मिक और सेवा संस्थाओं पर से विश्वास घटाता है, बल्कि समाज की नैतिक और सामाजिक संरचना को भी कमजोर करता है। परिणामस्वरूप लोगों में निराशा, अविश्वास और असंतोष फैलता है, जो आगे चलकर कानूनी या सामाजिक समस्याओं का कारण बनता है। इसलिए आवश्यक है कि समाज में **जागरूकता, विवेक और जवाबदेही** बनी रहे, ताकि आस्था और संसाधन सच्चे सामाजिक व आध्यात्मिक कार्यों में ही लगें — न कि किसी के लोभ और भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने में।

गीता का स्पष्ट संदेश है कि समाज की सुदृढ़ता के लिए तीनों स्तरों का सामंजस्य आवश्यक है—व्यक्ति को अपना **स्वधर्म** निभाना चाहिए; शासन को **राज्य धर्म** के अनुसार न्यायपूर्ण और पारदर्शी होना चाहिए; और धर्म व दान क्षेत्र को **सेवा धर्म** के अनुरूप कार्य करना चाहिए। यदि इनमें से कोई भी पक्ष धर्म से विमुख हो जाता है, तो असंतुलन, असमानता और नैतिक पतन जन्म लेता है।

नागरिकों को सदैव सजग, विवेकी और सक्रिय बने रहना चाहिए, ताकि उनके कर्म, सहयोग और योगदान समाज की नैतिक नींव को सशक्त करें, न कि उसे कमजोर करें। संस्थाओं का दायित्व है कि वे *पारदर्शिता, जवाबदेही* और *लोककल्याण* पर केंद्रित रहें, जबकि नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों को *धर्मनिष्ठा* और *निष्पक्षता* का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।

इन सबके संगठित रूप से ही वह शाश्वत व्यवस्था स्थिर रहती है जिसका वर्णन *भगवद्गीता* में किया गया है — जहाँ **'धर्म'** कोई सैद्धांतिक विचार नहीं, बल्कि जीवन का *सजीव और क्रियात्मक नियम*

है, जो मानव समाज को स्थिरता, आत्मोन्नति, न्याय, करुणा और सद्भाव प्रदान करता है।

अंततः *भगवद्गीता* धर्म को व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन — दोनों की आधारशिला मानती है। यह हमें *कर्तव्य, उत्तरदायित्व और सजग जीवन* की प्रेरणा देती है, यह स्मरण कराते हुए कि प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक शासन और प्रत्येक संस्था का कार्य *पवित्र उत्तरदायित्व* है। जब हम अपने धर्म को पहचानकर निष्काम भाव से कर्म करते हैं और नैतिकता का पालन करते हैं, तभी समाज भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक—तीनों स्तरों पर समृद्ध होता है, और मानव जीवन *न्याय, धर्म और करुणा* से आलोकित हो उठता है।

आगे: अब हम उस विषय की ओर बढ़ेंगे जिसे "**समाज के तीन स्तंभ**" कहा गया है। समाज तीन प्रमुख स्तंभों पर टिका है, जिनमें से प्रत्येक न्याय, कल्याण और नैतिक संतुलन बनाए रखने में अपनी विशेष भूमिका निभाता है —

समाज के तीन प्रमुख स्तंभों में प्रथम है **सरकार या राजनैतिक क्षेत्र (Government / Political Sector)**। यह शासन का पवित्र दायित्व वहन करता है — कानून का पालन कराना, निर्बलों की रक्षा करना और *राजधर्म* के अनुरूप सभी नागरिकों के कल्याण की सुनिश्चितता करना इसका कर्तव्य है। जब शासन धर्मपरायण और न्यायनिष्ठ होता है, तब समाज में शांति, सुरक्षा और संतुलन की भावना स्थापित होती है। सरकार का धर्म केवल सत्ता चलाना नहीं, बल्कि *सत्य, न्याय और लोककल्याण* की भावना से शासन करना है।

दूसरा स्तंभ है **व्यवसायिक या निजी क्षेत्र (Corporate / Private Sector)**। यह समाज की आर्थिक रीढ़ है, जो धन का सृजन करता है, वस्तुएँ और सेवाएँ प्रदान करता है तथा सामूहिक समृद्धि में योगदान देता है। किंतु इसका संचालन *वैश्य धर्म* के सिद्धांतों के अनुसार होना चाहिए — अर्थात् नैतिक व्यापार, पारदर्शिता, ईमानदारी और उत्तरदायित्वपूर्ण आचरण। जब व्यापार सेवा की भावना से जुड़ता है और लाभ से अधिक समाज के कल्याण को प्राथमिकता देता है, तब यह क्षेत्र भी धर्म का वाहक बन जाता है।

तीसरा और अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्तंभ है **धार्मिक एवं सेवा क्षेत्र (Religious and Charitable Sector)**। यह समाज का नैतिक और आध्यात्मिक मार्गदर्शक है। इसका मूल कार्य है — *आस्था, करुणा और सेवा* को प्रोत्साहित करना। इसका आधार है *सेवा धर्म (Seva Dharma)* — निःस्वार्थ सेवा का कर्तव्य, और *दैवी संपद (Daivi Sampad)* — दिव्य गुणों का विकास, जो *निष्काम कर्म (Nishkama Karma)* के सिद्धांत पर आधारित है। जब यह क्षेत्र लोभ और अहंकार से मुक्त होकर केवल मानवता की सेवा को अपना धर्म बना लेता है, तब समाज में सच्चे अर्थों में अध्यात्म, नैतिकता और सद्भाव का प्रकाश फैलता है।

आगामी अध्यायों में हम इन तीनों स्तंभों का गहराई से अध्ययन करेंगे और देखेंगे कि कैसे इनका धर्म के साथ सामंजस्य या असामंजस्य समाज के स्वास्थ्य, न्याय और सामूहिक भाग्य को निर्धारित करता है — और यही हमें अंतिम छठे अध्याय की ओर ले जाएगा।

3. समाज का पहला स्तंभ – शासन

शासन चाहे किसी भी रूप में क्यों न हो—लोकतंत्र, राजतंत्र, तानाशाही अथवा समाजवादी प्रशासन—अंततः वह **राजधर्म** के शाश्वत सिद्धांतों से बंधा हुआ है, जैसा कि भगवद्गीता में प्रतिपादित किया गया है। राजधर्म केवल राजनीति की रणनीति या प्रशासनिक व्यवस्था नहीं है; यह शासकों और नेताओं का पवित्र कर्तव्य है कि वे न्याय की रक्षा करें, निर्बलों की सुरक्षा करें और सभी नागरिकों के कल्याण को सुनिश्चित करें। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया है कि सत्ता की वैधता उसके संचय, उत्तराधिकार या बल प्रयोग में नहीं, बल्कि धर्मानुसार अपने कर्तव्य के निष्ठापूर्ण पालन में निहित है।

भगवद्गीता में कहा गया है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥"
(गीता 4.7)

भावार्थ – हे अर्जुन! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब मैं स्वयं को प्रकट करता हूँ।

यह श्लोक एक सार्वभौमिक सत्य को प्रकट करता है: जब भी शासक, सरकारें या संस्थाएँ अपने धर्मगत दायित्वों से विमुख हो जाती हैं, तब समाज में नैतिक और सामाजिक पतन प्रारंभ हो जाता है।

शासन की व्यवस्था समय और स्थान के अनुसार बदल सकती है — कभी सिंहासन पर विराजमान राजा के रूप में, कभी जनता द्वारा चुने गए राष्ट्रपति के रूप में, कभी सत्तालोभी तानाशाह के रूप में, या कभी संसाधनों के समान वितरण हेतु समाजवादी परिषद के रूप में — परंतु मूल दायित्व सदा एक ही रहता है: **जनसेवा और न्याय की रक्षा।**

राजतंत्रों में सत्ता प्रायः वंशानुगत होती है, पर **राजधर्म** स्मरण कराता है कि शक्ति एक *उत्तरदायित्व* है, विशेषाधिकार नहीं। राजा का अधिकार तभी तक न्यायोचित है जब तक वह प्रजा की रक्षा करता है, अन्न, स्वास्थ्य और सुरक्षा सुनिश्चित करता है और न्याय को दृढ़ता से लागू करता है। तानाशाही व्यवस्थाओं में शक्ति केंद्रित होती है, पर *गीता* चेतावनी देती है कि **नैतिक उत्तरदायित्व रहित सत्ता अत्याचार, शोषण और अधर्म** का कारण बनती है। समाजवादी शासन समानता पर आधारित होते हुए भी यदि दक्षता, नैतिकता और निर्बलों की सुरक्षा की उपेक्षा करें तो असफल हो जाते हैं। यहाँ तक कि लोकतंत्र भी अछूते नहीं हैं — चुनावी व्यवस्था, लॉबी, कॉर्पोरेट प्रभाव और राजनीतिक महत्वाकांक्षा अक्सर शासन के धर्म को विकृत कर देते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण *अध्याय 3, श्लोक 35* में कहते हैं —

"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥"

अर्थात् — *"दूसरे के धर्म को उत्तम रूप से करने की अपेक्षा, अपने धर्म को अपूर्ण रूप से करना श्रेष्ठ है। अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारी है, जबकि दूसरे का धर्म भय देने वाला है।"*

यह शिक्षा सार्वभौमिक रूप से लागू होती है — नेता या शासक को अपनी अंतर्निहित जिम्मेदारी — सेवा, संरक्षण और न्याय — के अनुसार कार्य करना चाहिए, न कि किसी अन्य प्रणाली की नकल में। सच्चा शासन किसी मॉडल की नकल नहीं, बल्कि अपने समय, संस्कृति और जनता की आवश्यकताओं के अनुसार **कर्तव्य का नैतिक पालन** है।

आज की शासन व्यवस्थाएँ प्रायः इस *धार्मिक (धार्मिक नहीं, बल्कि धर्मसिद्ध)* आदर्श से दूर हो गई हैं। करोड़ों की संपत्ति और संसाधन **सैन्य विस्तार, निगरानी तंत्र और भव्य आयोजनों** में खर्च होते हैं, जबकि लाखों लोग भूख, कुपोषण, स्वास्थ्य संकट और शिक्षा की कमी से जूझ रहे हैं। राजे-रजवाड़े विलासिता में रहते हैं जबकि जनता श्रम करती है; तानाशाह सत्ता का केंद्रीकरण निजी लाभ के लिए करते हैं; यहाँ तक कि लोकतांत्रिक देशों में भी जनप्रतिनिधि अक्सर जनकल्याण से अधिक चुनावी लाभ और कॉर्पोरेट दबाव को प्राथमिकता देते हैं। इन सबमें **राजधर्म का उल्लंघन** होता है, जिसके परिणामस्वरूप असमानता, असुरक्षा और नैतिक पतन फैलता है।

गीता शासन को *यज्ञ* के रूप में परिभाषित करती है —

"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥" *(भगवद् गीता 3.9)*

अर्थात् — *"यज्ञ (सेवा) के लिए किए गए कर्म ही मुक्तिदायक हैं; अन्यथा कर्म बंधन का कारण बनते हैं।"*

शासन के हर रूप पर यह सिद्धांत लागू होता है — शक्ति तभी वैध है जब उसे निस्वार्थ भाव से समग्र कल्याण के लिए प्रयोग किया जाए, विशेषकर समाज के सबसे कमजोर वर्गों के हित में। शासक मालिक नहीं, बल्कि **जनता के ट्रस्टी** हैं, और शासन की सफलता जनता के सम्मान, सुरक्षा और समृद्धि से मापी जाती है।

गीता में श्रीकृष्ण यह भी कहते हैं —

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥" *(भगवद् गीता 3.21)*

अर्थात् — *"जो श्रेष्ठ पुरुष आचरण करता है, सामान्य लोग भी वैसा ही करते हैं; वह जो आदर्श प्रस्तुत करता है, वही समाज का मानक बन जाता है।"*

इसका तात्पर्य यह है कि नेताओं की नैतिकता या अनैतिकता पूरे समाज को प्रभावित करती है। यदि नेता लोभी, भ्रष्ट या असंवेदनशील होंगे तो जनता भी वैसी ही बनती जाएगी। इसके विपरीत, धर्मनिष्ठ और निस्वार्थ नेतृत्व समाज में न्याय, ईमानदारी और सेवा की भावना उत्पन्न करता है।

विश्व शासन के लिए आगे का मार्ग

सभी देशों की सरकारों को — चाहे वे राजतांत्रिक हों, लोकतांत्रिक, तानाशाही या समाजवादी — **राजधर्म के मूल सिद्धांतों** की ओर लौटना चाहिए। संसाधनों का उपयोग सैन्य विस्तार या भव्य आयोजनों

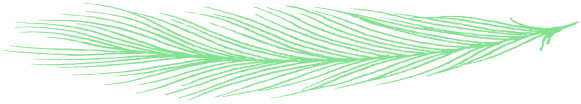

की बजाय **भोजन, शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार** जैसे मूलभूत मानव आवश्यकताओं पर होना चाहिए। गोपनीयता, भ्रष्टाचार और स्वार्थ की जगह **पारदर्शिता, उत्तरदायित्व और नैतिक नेतृत्व** को अपनाना चाहिए। नेतृत्व को *सेवा (सेवा-भाव)* के रूप में समझा जाना चाहिए, न कि व्यक्तिगत लाभ के साधन के रूप में। नीतियाँ निर्बलों की रक्षा करें, असमानता घटाएँ और साझा समृद्धि को बढ़ाएँ। सरकारें *गीता* के निस्वार्थ कर्म के आदर्श को अपनाएँ और यह स्वीकार करें कि नागरिकों का कल्याण ही शासन की वास्तविक वैधता का मापदंड है।

नागरिकों के लिए सावधानी

धार्मिक शासन व्यवस्था में नागरिकों की भी जिम्मेदारी होती है। राजा, चुने हुए नेता या तानाशाह — किसी के भी प्रति **अंध-भक्ति या अंध-आज्ञापालन** अन्याय और शोषण को जन्म देता है। जनता को सतर्क रहना चाहिए, प्रश्न पूछने चाहिए, पारदर्शिता और जवाबदेही की माँग करनी चाहिए। सरकारों का मूल्यांकन बाहरी आडंबर, विचारधारा या प्रचार से नहीं, बल्कि इस बात से होना चाहिए कि वे समाज के हर वर्ग को कितना **संरक्षण, सम्मान और कल्याण** प्रदान करती हैं। सजग नागरिकता ही यह सुनिश्चित कर सकती है कि शासन की हर प्रणाली **राजधर्म के शाश्वत सिद्धांतों** के अनुरूप चले।

निष्कर्ष

राजधर्म किसी राजनीतिक प्रणाली की यांत्रिकी तक सीमित नहीं है। यह एक **सार्वभौमिक और शाश्वत नियम** है, जो शासन को उसके नैतिक और सामाजिक प्रभाव से परखता है — न कि उसके पदनामों,

संविधान या चुनावी प्रक्रियाओं से। सच्चा नेतृत्व वही है जो सेवा, न्याय और निर्बलों की रक्षा के लिए समर्पित हो। *भगवद् गीता* सिखाती है कि जब शासन, नेता और संस्थाएँ इस धर्मसंगत आदेश को अपनाते हैं, तो समाज समृद्ध होता है; और जब वे इससे भटकते हैं, तो भ्रष्टाचार, असमानता और अधर्म फैलता है। राजतंत्र, लोकतंत्र, तानाशाही या समाजवाद — किसी भी रूप में शासन क्यों न हो — **राजधर्म का यह सनातन सिद्धांत ही सच्चे और धर्मसंगत शासन का अंतिम मापदंड है।**

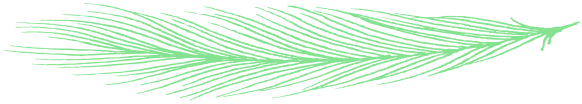

4. समाज का दूसरा स्तंभ – वाणिज्य क्षेत्र

कॉर्पोरेट या निजी क्षेत्र आज समाज के सबसे प्रभावशाली स्तंभों में से एक है, जो आर्थिक शक्ति और लाखों लोगों के जीवन पर गहरा प्रभाव रखता है। अपने आदर्श रूप में, यह क्षेत्र **वैश्य धर्म** के अनुसार कार्य करता है, जैसा कि भगवान कृष्ण ने *भगवद्गीता* में स्पष्ट किया है। व्यापार और धन केवल अपने लिए नहीं, बल्कि जीवन यापन, सामाजिक कल्याण और धर्म की पूर्ति के लिए साधन हैं। कृष्ण ने वैश्य के कर्तव्य को व्यापार, कृषि और आर्थिक संबल के रूप में स्पष्ट किया है, जिसमें यह सिद्धांत निहित है कि समृद्धि का उद्देश्य केवल व्यक्तिगत लालच नहीं, बल्कि समाज की भलाई होना चाहिए।

गीता में वर्णित है कि वर्ण व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति की **गुण** और **कर्म** के आधार पर निर्धारित होती है:

"ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥"
(*भगवद्गीता* 18.41)

"हे परंतप अर्जुन! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म उनके स्वभाव और गुणों के अनुसार विभक्त हैं।"

वैश्य के कर्तव्य इस प्रकार हैं:

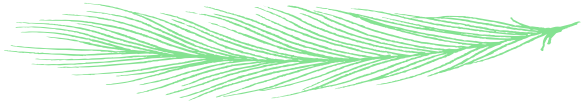

"कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥"
(*भगवद्गीता* 18.44)

"वैश्य का स्वाभाविक कर्तव्य कृषि, गौ-पालन और व्यापार है; शूद्र का कर्म दूसरों की सेवा है।"

इस प्रकार, धन और आर्थिक गतिविधियाँ केवल स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि समाज की भलाई के लिए हैं। समृद्धि एक **विश्वास** है, अधिकार नहीं।

परंतु आधुनिक कॉर्पोरेट व्यवहार इस धर्मिक आधार से दूर चला गया है। आज लाभ ही सर्वोपरि बन गया है, नैतिकता, ईमानदारी और सामाजिक जिम्मेदारी पीछे छूट गई है। कंपनियाँ मूल्य बढ़ाती हैं, गुणवत्ता घटाती हैं, और संसाधनों को केंद्रीकृत करती हैं। धन केवल कुछ अधिकारियों और शेयरधारकों तक सीमित रह जाता है, जबकि लाखों आम लोग बुनियादी आवश्यकताओं के लिए संघर्ष करते हैं।

कृष्ण ने स्वार्थ और लालच से दूर रहने का निर्देश दिया है:

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥"
(*भगवद्गीता* 2.47)

"तुम्हारा केवल कर्म करने का अधिकार है, उसके फलों में नहीं; फल की इच्छा से कर्म मत करो और निष्क्रियता में आसक्ति न रखो।"

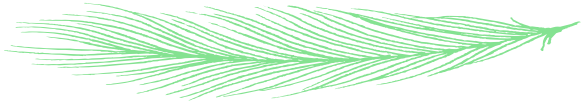

व्यवसाय में भी यही लागू होता है: लाभ केवल नैतिक और ईमानदार कर्म का परिणाम होना चाहिए, लालच का साधन नहीं। जब कंपनियाँ केवल लाभ के लिए कार्य करती हैं, तब असमानता और अन्याय बढ़ता है।

धर्म से विचलन का एक और उदाहरण कॉर्पोरेट जगत में देखा जा सकता है — विशेषतः *कॉर्पोरेट सोशल रिस्पॉन्सिबिलिटी (CSR)* के नाम पर। यह निधि कंपनियों के लाभ का एक अंश होती है, जिसका उद्देश्य समाज के हित में उपयोग करना है। किंतु आज अधिकांश स्थानों पर इन निधियों का प्रयोग सार्वजनिक छवि सुधारने, भव्य परियोजनाओं, या तथाकथित धार्मिक एवं परोपकारी संस्थाओं के साथ सांठगांठ के लिए किया जाता है, जिनकी अपनी नैतिक स्थिति भी संदिग्ध होती है। गरीबों और वंचितों की सेवा करने के स्थान पर, ये प्रयास अक्सर शोषण और असमानता के चक्र को और गहरा करते हैं।

आदर्श *वैश्य धर्म* और आज के कॉर्पोरेट आचरण में तीव्र विरोध दिखाई देता है। भगवान श्रीकृष्ण का दृष्टिकोण यह था कि **धन सृजन समाज को सशक्त करने का माध्यम होना चाहिए** — जिससे रोजगार मिले, कृषि और व्यापार को बल मिले, शिक्षा को बढ़ावा मिले, और कोई भी व्यक्ति अन्न या अवसर से वंचित न रहे। आज के अधिकांश कॉर्पोरेट इसके विपरीत चल रहे हैं। वे **शेयरहोल्डर लाभ, विलासिता और शक्ति प्रदर्शन** को प्राथमिकता देते हैं, जबकि नैतिक उत्तरदायित्व, समानता और सेवा के आदर्शों को भूल जाते हैं। इस प्रकार वे उस *धर्म* से विमुख हो जाते हैं जो उन्हें समाज के हित में सौंपा गया था।

कॉरपोरेट क्षेत्र के लिए आगे का मार्ग

वैश्य धर्म के अनुरूप होने के लिए निजी क्षेत्र को अपने *लाभ, समाज और नैतिकता* के साथ संबंध को मूल रूप से पुनः सोचना होगा। धन को मानवता की सेवा का साधन समझना चाहिए, न कि अपने आप में लक्ष्य। उचित मूल्य, गुणवत्तापूर्ण उत्पाद और सभी के लिए पहुँच – ये मूल सिद्धांत बनने चाहिए। कॉरपोरेट सोशल रिस्पॉन्सिबिलिटी (CSR) पारदर्शी होनी चाहिए और वास्तव में समाज की ज़रूरतों को पूरा करे, न कि केवल दिखावे का साधन बने। नेतृत्व में *विनम्रता, सादगी और उत्तरदायित्व* होना आवश्यक है। असली सफलता वही है जो समुदायों को सशक्त बनाए, न कि शक्ति या ऐश्वर्य के प्रदर्शन में खो जाए।

इसके साथ ही, कंपनियों को *लाभ से आंतरिक रूप से विरक्त* होना सीखना चाहिए — जैसा कि श्रीकृष्ण ने *निष्काम कर्म* का सिद्धांत सिखाया — यानी परिणामों से आसक्त हुए बिना कर्म करना। ऐसा करने से व्यावसायिक निर्णय नैतिक परिणामों को प्राथमिकता देंगे, न कि केवल तात्कालिक आर्थिक लाभ को। तभी कंपनियाँ असमानता और शोषण का साधन बनने की बजाय *समृद्धि, स्थिरता और सामाजिक न्याय* की प्रेरक शक्ति बन सकती हैं।

नागरिकों के लिए चेतावनी

नागरिकों को कॉरपोरेट संस्थाओं से जुड़ते समय *सावधान और सजग* रहना चाहिए। अंधविश्वास में ब्रांडिंग, विज्ञापन या CSR दावों पर भरोसा करना परोक्ष शोषण का कारण बन सकता है। कंपनियों की नीतियों की

जानकारी रखना, पारदर्शिता की माँग करना और वस्तुओं व सेवाओं की समान पहुँच के लिए आवाज़ उठाना जरूरी है। लाभ-प्रधान कंपनियों को उन नैतिक मानकों के प्रति जवाबदेह ठहराया जाना चाहिए, जिन्हें वैश्य धर्म निर्धारित करता है; अन्यथा समाज असमानता, आवश्यकताओं के व्यापारीकरण और आर्थिक क्षेत्र में नैतिक पतन की ओर बढ़ेगा।

निष्कर्ष: कॉरपोरेट जगत का सच्चा *धर्म* केवल लाभ कमाना नहीं, बल्कि *जिम्मेदार संपदा-सृजन* है जो समाज की सेवा करे। श्रीकृष्ण के बताए *वैश्य धर्म* — परिश्रम, ईमानदारी और सेवा — को अपनाकर निजी क्षेत्र शोषण के साधन से बदलकर *नैतिक समृद्धि और सामाजिक उत्थान के स्तंभ* में परिवर्तित हो सकता है। केवल तभी व्यापार *धर्म के शाश्वत नियम* के अनुरूप अपनी पवित्र भूमिका निभा सकेगा।

5. समाज का तीसरा स्तंभ – धर्म एवं परोपकार क्षेत्र

भगवद गीता में धर्म एवं परोपकार क्षेत्र, यानी धार्मिक और दान-सेवा संस्थाओं की भूमिका, **धर्म** के व्यापक ढांचे में रखी गई है। विशेष रूप से यह क्षेत्र **सेवा धर्म** (निःस्वार्थ सेवा का कर्तव्य) और **दैवी सम्पद** (दैवी गुणों का विकास) से जुड़ा है, जिसकी जड़ें **निष्काम कर्म** यानी निःस्वार्थ क्रियाशीलता में हैं। इस क्षेत्र की मुख्य जिम्मेदारी गरीबों, वंचितों और कमजोरों की सेवा करना है, जो गीता के **विनाशकारी आसक्ति रहित कर्म** के सिद्धांत को दर्शाता है।

जैसा कि कृष्ण कहते हैं: **"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः; तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर"** (BG 3.9) **अर्थ:** हे कौन्तेय! जो कर्म केवल यज्ञ या समाज कल्याण के लिए किया जाता है, वह आत्मा को बाँधता नहीं; जो कर्म स्वार्थ के लिए किया जाता है, वह बंधन उत्पन्न करता है।

अतः निःस्वार्थ रूप से किया गया दान और सेवा ही धर्मपूर्ण और आत्मा को ऊँचा उठाने वाला होता है। धार्मिक और दान-सेवा संस्थाएँ समाज में संसाधनों का पुनर्वितरण करती हैं, कमजोरों की रक्षा करती हैं और सामाजिक कल्याण सुनिश्चित करती हैं। वे नैतिक सिद्धांतों को व्यावहारिक सामाजिक क्रिया में बदलती हैं।

गीता में वर्णित दैवी गुणों जैसे **निर्भयता, शुद्धता, करुणा, संयम, सत्य, क्षमा, क्रोधहीनता, सौम्यता और विनम्रता** को ये संस्थाएँ

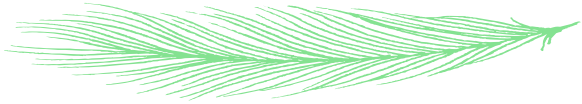

अपनाती हैं। जब ये संस्थाएँ जरूरतमंदों के प्रति करुणा दिखाती हैं, अपने कामकाज में ईमानदारी और पारदर्शिता बनाए रखती हैं और बिना भेदभाव सेवा करती हैं, तब ये नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धांतों के जीवित उदाहरण बन जाती हैं। उनका अस्तित्व यह दिखाता है कि सेवा, ईमानदारी और करुणा केवल व्यक्तिगत गुण नहीं हैं, बल्कि सामाजिक कर्तव्य हैं जो नैतिक व्यवस्था को बनाए रखते हैं।

जहाँ **वैश्य धर्म** मुख्य रूप से व्यापारियों और कॉर्पोरेट क्षेत्र को नैतिक रूप से धन उत्पन्न करने का मार्गदर्शन करता है, वहीं इस धन का उचित वितरण **दान और सेवा** के माध्यम से इस जिम्मेदारी को आगे बढ़ाता है। भगवद गीता में कहा गया है कि भौतिक संसाधन केवल साधन हैं, लक्ष्य नहीं; उनका उचित उपयोग ही धर्मसंगत है। धन को धर्मपूर्वक अर्जित किया जाना चाहिए और जीवन-यापन, समाज कल्याण और धर्मपूर्ण उद्देश्यों के लिए उपयोग किया जाना चाहिए। दान-सेवा संस्थाएँ समाज कल्याण के लिए इस धन की संरक्षक बनती हैं, अतिरिक्त धन को सेवा में परिवर्तित करती हैं और सुनिश्चित करती हैं कि संपन्नता केवल निजी संग्रह के लिए नहीं, बल्कि सामूहिक भले के लिए काम करे।

हालाँकि **राज्य धर्म** मुख्य रूप से शासन पर लागू होता है, गीता यह सिखाती है कि सभी धर्मयुक्त कर्ता, जिसमें दान-सेवा संस्थाएँ भी शामिल हैं, कमजोरों की रक्षा करें और न्याय सुनिश्चित करें। इस भूमिका को निभाते हुए ये संस्थाएँ सामाजिक न्याय की रक्षक जैसी भूमिका निभाती हैं, और शिक्षा, भोजन, स्वास्थ्य देखभाल और आध्यात्मिक मार्गदर्शन प्रदान करती हैं, जहाँ सरकार या बाजार असफल रहते हैं।

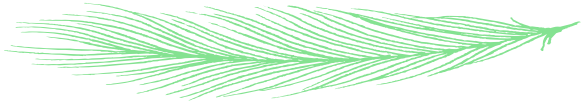

गीता यह भी बताती है कि किसी का अपना धर्म, भले ही अधूरा हो, किसी अन्य का धर्म अपनाने से श्रेष्ठ है, चाहे वह कितनी भी कुशलता से निभाया गया हो:**"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वानुष्ठितात्; स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"** (BG 3.35) **अर्थ:** अपने धर्म का पालन, चाहे वह अपूर्ण हो, दूसरों के धर्म का पालन करने से बेहतर है; अपने धर्म में मरना पुण्यदायक है, पर दूसरों के धर्म में भय उत्पन्न होता है।

संस्थाओं के लिए यह सिद्धांत समान रूप से लागू होता है। प्रत्येक संगठन का **स्वधर्म** होता है, जो उसके निर्माण के उद्देश्य से उत्पन्न होता है। धार्मिक संस्थाएँ जैसे **मंदिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा, आश्रम, और ढेर** समाज में भक्ति को प्रोत्साहित करने, आध्यात्मिक ज्योति बनाए रखने और श्रद्धा से प्राप्त दान को न्यायपूर्ण और करुणामय तरीके से वितरित करने के लिए अस्तित्व में हैं। दान सेवा के लिए है, संग्रह या दिखावे के लिए नहीं, और इन संस्थाओं का वास्तविक स्वधर्म वितरण और निःस्वार्थ क्रियाशीलता में निहित है।

वास्तव में, कई संस्थाएँ इस मार्ग से भटक गई हैं। दान अक्सर भव्य भवनों, विलासिता और व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लिए मोड़ दिया जाता है, जबकि करुणा और सेवा का मूल उद्देश्य आराम, दिखावे और सत्ता की तलाश में दब जाता है। इसका परिणाम गहरा होता है: श्रद्धा हिलती है, भक्ति भ्रष्ट होती है, और धर्म का वास्तविक अर्थ कमजोर पड़ता है।

समाज को तीन क्षेत्रों में समझा जा सकता है:

1. **सरकार**, जो शासन और नीति निर्माण के लिए जिम्मेदार है।

2. **निजी क्षेत्र**, जो व्यापार और उत्पादन में लगा है।
3. **तीसरा क्षेत्र**, धार्मिक और सामाजिक संस्थाएँ, जो सेवा, दान और नैतिक उत्थान के लिए जिम्मेदार हैं।

तीसरा क्षेत्र समाज की **नैतिक चेतना** के रूप में कार्य करता है, आध्यात्मिक मूल्यों को व्यावहारिक सेवा में बदलता है। जब संस्थाएँ अपना स्वधर्म त्याग देती हैं, तो वे समाज के संतुलन को बिगाड़ देती हैं, जिससे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों स्तरों पर हानि होती है।

संसाधनों के दिखावे और व्यक्तिगत लाभ के लिए दुरुपयोग के अलावा, आज धर्म एवं परोपकार क्षेत्र **कदाचार, फर्जी गुरु और अनैतिक संचालकों** जैसी गंभीर चुनौतियों का सामना कर रहा है, जो नागरिकों के विश्वास और उदारता का शोषण करते हैं। कई व्यक्ति और संगठन खुद को आध्यात्मिक प्राधिकरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं, लेकिन भ्रष्टाचार, वित्तीय धोखाधड़ी और अपराध में लिप्त रहते हैं, धर्म का आड़ लेकर धन या सत्ता जमा करते हैं। भक्तों को झूठे बहानों पर दान करने के लिए भ्रमित किया जाता है, और आध्यात्मिक लाभ या ईश्वर की कृपा का वादा व्यक्तिगत लाभ के लिए उपयोग किया जाता है।

इस प्रकार का शोषण न केवल धार्मिक और दान-सेवा संस्थाओं में विश्वास को कमज़ोर करता है, बल्कि समाज की नैतिक और सामाजिक संरचना को भी कमजोर करता है, जिससे व्यापक निराशा, अविश्वास और कभी-कभी कानूनी या सामाजिक विवाद उत्पन्न होते हैं। ऐसे दुरुपयोग को रोकने के लिए **सतर्कता, विवेक और जवाबदेही** बेहद आवश्यक हैं, ताकि भक्ति और संसाधन वास्तविक सामाजिक और

आध्यात्मिक उद्देश्यों की सेवा करें, लालच और भ्रष्टाचार का पोषण न करें।

संस्थाओं का अपने **स्वधर्म** की ओर सचेत लौटना यह सुनिश्चित करता है कि दान का उपयोग भूखों को भोजन देने, बच्चों को शिक्षा देने और बीमारों का उपचार करने में हो, और उनका कार्य पारदर्शिता, जवाबदेही और निष्पक्षता के सिद्धांतों पर आधारित हो। **निष्काम कर्म** का अभ्यास करते हुए, यानी व्यक्तिगत लाभ की आस के बिना निःस्वार्थ रूप से कार्य करके, ये संस्थाएँ समाज की नैतिक और आध्यात्मिक नींव को पुनः स्थापित करती हैं।

जब संस्थाएँ धन का संग्रह करती हैं या केवल विशिष्ट वर्ग के हित में कार्य करती हैं, तो वे **परधर्म** (दूसरे का धर्म) का पालन करती हैं, जिसके बारे में गीता चेतावनी देती है कि यह भय, पतन और भ्रष्टाचार को जन्म देता है। इसके विपरीत, जब संस्थाएँ अपने वास्तविक **स्वधर्म**—सेवा, वितरण और निःस्वार्थ कार्य—की ओर लौटती हैं, तो वे **दैवी इच्छा के साधन** और **सामाजिक परिवर्तन के प्रतिनिधि** बन सकती हैं। धार्मिक और दान-सेवा संस्थाएँ, जब वे अपने स्वधर्म के अनुसार कार्य करती हैं, तो वे समाज का **तीसरा स्तंभ** बन जाती हैं। ये धन, भक्ति और सामाजिक जिम्मेदारी को व्यावहारिक सेवा में परिवर्तित करती हैं, सरकार और व्यापार के कार्य को पूरक बनाती हैं, सामाजिक न्याय को बनाए रखती हैं और गीता में कृष्ण द्वारा बताए गए शाश्वत नियमों का पालन करती हैं।

सही रूप से कार्य करने पर ये संस्थाएँ केवल सहायक ढांचे नहीं होतीं, बल्कि समाज की **नैतिक और आध्यात्मिक चेतना** बन जाती हैं, जो

अपना पवित्र कर्तव्य निभाने पर संतुलन, विश्वास और आशा को पुनः स्थापित कर सकती हैं।

इन संस्थाओं के लिए आगे का मार्ग निःस्वार्थ सेवा की सचेत प्रतिबद्धता मांगता है, जिसे **जवाबदेही और पारदर्शिता** के स्पष्ट सिद्धांतों द्वारा मार्गदर्शित किया जाए। नेतृत्व को व्यक्तिगत लाभ की बजाय समाज के कल्याण को प्राथमिकता देनी चाहिए, जरूरतों का निष्पक्ष मूल्यांकन सुनिश्चित करना चाहिए, और संसाधनों को सबसे अधिक जरूरतमंदों की ओर निर्देशित करना चाहिए। संस्थाओं को ऐसी संस्कृति विकसित करनी चाहिए, जिसमें **आध्यात्मिक भक्ति और व्यावहारिक सेवा** अविभाज्य हों, और दान को वास्तविक उपचार, पोषण और शिक्षा के कार्य में बदल दें। अपने **स्वधर्म** में स्थिर रहते हुए, ये संगठन विश्वास को पुनः स्थापित कर सकती हैं, भक्ति को प्रेरित कर सकती हैं और नैतिक और सामाजिक मार्गदर्शन के स्थायी प्रकाश स्तंभ बन सकती हैं।

नागरिकों की भी दान-सेवा क्षेत्र की **अखंडता और प्रभावशीलता** को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका है। उन्हें दान देने में विवेक का अभ्यास करना चाहिए, यह सुनिश्चित करना चाहिए कि योगदान उन संस्थाओं तक पहुँचे जो वास्तव में **निःस्वार्थ सेवा** के लिए प्रतिबद्ध हैं। जो संगठन अपने धर्मपूर्ण उद्देश्य से भटक गए हैं, उनके प्रति अंधविश्वास या बिना जांच के समर्थन दुरुपयोग और भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे सकता है। नागरिक सतर्क रहते हुए, पारदर्शिता की मांग करते हुए और जवाबदेही को प्रोत्साहित करके समाज की नैतिक नींव को बनाए रखने में योगदान देते हैं और तीसरे स्तंभ को वास्तविक कल्याण और

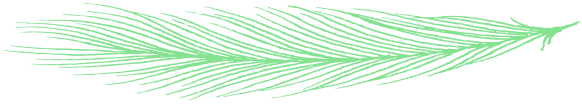

नैतिक मार्गदर्शन के लिए मजबूती प्रदान करते हैं। सक्रिय भागीदारी और जिम्मेदार दान यह सुनिश्चित करते हैं कि दान-सेवा क्षेत्र अपने निर्धारित उद्देश्य—सामाजिक न्याय का रक्षक और आध्यात्मिक मूल्यों को व्यावहारिक कार्य में रूपांतरित करने वाला—को पूरी निष्ठा से पूरा करे।

6. समाज के तीन स्तंभ और धर्म की पवित्रता

मानव सभ्यता तीन मुख्य स्तंभों पर आधारित है: **सरकारी क्षेत्र**, **कॉर्पोरेट या निजी क्षेत्र**, और **धार्मिक एवं दान-सेवा क्षेत्र**। प्रत्येक का पवित्र कर्तव्य है: न्याय बनाए रखना, मानवता की सेवा करना, और जीवन की गरिमा की रक्षा करना। इस कर्तव्य का मूलाधार है **धर्म**—शाश्वत नियम जो केवल व्यक्तिगत नैतिकता ही नहीं बल्कि समाज की संरचनात्मक अखंडता को भी नियंत्रित करता है। जब ये स्तंभ धर्म से भटक जाते हैं, तो समाज में **शोषण, असमानता और नैतिक पतन** उत्पन्न होता है।

सरकारी क्षेत्र: जनता के संरक्षक

सरकारें जनता द्वारा बनाई जाती हैं ताकि लोगों की **सुरक्षा, मार्गदर्शन और सेवा** सुनिश्चित की जा सके। भगवद गीता में वर्णित **राज्यधर्म** शासकों की भूमिका को परिभाषित करता है: न्याय बनाए रखना, जनता के कल्याण को सुनिश्चित करना, और प्रत्येक नागरिक की गरिमा की रक्षा करना।

लेकिन आधुनिक समय में कई देशों में सरकारें इन सिद्धांतों से बहुत दूर चली गई हैं। हथियारों, युद्ध और राजनीतिक प्रदर्शन पर लाखों करोड़ रुपये खर्च होते हैं, जबकि लाखों नागरिक **भुखमरी, कुपोषण, स्वास्थ्य सेवा की कमी, और बेरोजगारी** का सामना करते हैं। वह धन जो कमजोरों के जीवन और गरिमा की सुरक्षा में इस्तेमाल हो

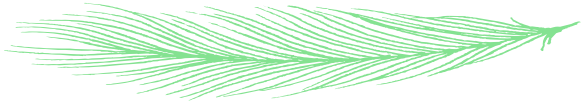

सकता था, वह **शक्ति और विलासिता** की ओर मोड़ दिया जाता है। राजनीतिक महत्वाकांक्षा और व्यक्तिगत भव्यता अक्सर पवित्र सेवा के कर्तव्य से ऊपर हो जाती हैं।

धर्म की पुनर्स्थापना के लिए सरकारों को आवश्यक है कि वे संसाधनों को सैन्य और औपचारिक अतिशयता से हटा कर **मूलभूत मानव आवश्यकताओं**—भोजन सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, और रोजगार—की ओर निर्देशित करें। शासन को **पारदर्शी, जवाबदेह और नैतिक** बनाना चाहिए। सार्वजनिक सेवा को **पवित्र कार्य** के रूप में समझना चाहिए, जहां प्रत्येक नागरिक की गरिमा और कल्याण **अल्पकालिक राजनीतिक लाभ या व्यक्तिगत विलासिता** से ऊपर हो। किसी सरकार की सफलता का पैमाना **सैन्य शक्ति या भव्य प्रदर्शन** नहीं होना चाहिए, बल्कि **गरीबी दूर करना, हाशिए पर रहने वालों की सुरक्षा और प्रत्येक व्यक्ति को गरिमा के साथ जीवन जीने का सशक्तिकरण** होना चाहिए।

कॉर्पोरेट और धर्मयुक्त समाज: धन का सही उपयोग और सेवा का मार्ग

कॉर्पोरेट क्षेत्र: साधन के रूप में धन, अंत नहीं

धर्म की दृष्टि में निजी क्षेत्र समाज कल्याण का वाहन होना चाहिए। धन केवल संचय के लिए नहीं, बल्कि मानवता के उत्थान के लिए एक साधन होना चाहिए। आज का कॉर्पोरेट जगत अक्सर इस सिद्धांत को उलट

देता है: लाभ ही सर्वोच्च लक्ष्य बन जाता है और सेवा केवल प्रचार के नारे तक सीमित रह जाती है। वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें अत्यधिक बढ़ा दी जाती हैं, गुणवत्ता घटती है, और गरीबों के लिए पहुँच सीमित हो जाती है। कॉर्पोरेट नेता विलासिता में लिप्त रहते हैं, जबकि लाखों लोग रोज़ का भोजन जुटाने में संघर्ष करते हैं। इसके अलावा, कॉर्पोरेट और सरकार के बीच गठजोड़ अक्सर नीतियों को लाभ की ओर झुकाता है, जिससे असमानता और बढ़ती है।

कॉर्पोरेट सामाजिक उत्तरदायित्व (CSR), जो मूलतः मुनाफे का एक हिस्सा समाज की भलाई के लिए लौटाने के लिए था, अक्सर धन संचय को सफेद धोने का माध्यम बन जाता है। CSR फंड ऐसे धार्मिक या दान-सेवा संस्थानों को जाता है जो स्वयं धर्म के सिद्धांतों का पालन नहीं करते, जिससे नैतिक और सामाजिक शोषण की एक श्रृंखला बनती है।

आगे का मार्ग: कॉर्पोरेट क्षेत्र के लिए स्पष्ट है कि लाभ को सेवा का साधन समझा जाए, न कि अंत। मूल्य निर्धारण न्यायसंगत होना चाहिए, गुणवत्ता सुनिश्चित हो और समाज के सभी वर्गों के लिए पहुँच उपलब्ध हो। CSR और परोपकारी प्रयास पारदर्शी, जवाबदेह और वास्तव में सामाजिक उत्थान के लिए होना चाहिए। नेतृत्व को **सादगी, नैतिक आचरण और जिम्मेदारी** अपनानी चाहिए, धन का उपयोग **शक्तिशाली प्रदर्शन या व्यक्तिगत प्रतिष्ठा** के लिए नहीं, बल्कि समाज कल्याण के लिए करना चाहिए।

धार्मिक और दान-सेवा संस्थाएँ: व्यापार से परे विश्वास
धार्मिक और दान-सेवा संस्थाएँ ऐतिहासिक रूप से **अतिरिक्त और आवश्यकता** के बीच पुल का काम करती रही हैं, नैतिक मार्गदर्शन

और व्यावहारिक सहायता प्रदान करती हैं। अपने शुद्धतम रूप में, ये **करुणा, न्याय और निःस्वार्थ सेवा** बनाए रखती हैं। लेकिन आज कई संस्थाएँ शोषण की ओर बढ़ गई हैं। भव्य मंदिर, आश्रम और गुरुद्वारे अक्सर नेताओं की सुविधा को गरीबों के कल्याण पर प्राथमिकता देते हैं, जिससे विश्वास का व्यापार और कमजोरों की उपेक्षा होती है। दान का दुरुपयोग और संस्थाओं के प्रमुखों की विलासिता इनकी नैतिक कमी को उजागर करती है। कॉर्पोरेट दान और CSR फंड अक्सर इस चक्र को बढ़ावा देते हैं, जिससे धन संचय वैध दिखता है जबकि सामाजिक सेवा न्यूनतम रहती है।

आध्यात्मिकता का व्यावसायिकीकरण इस समस्या को और बढ़ाता है। ध्यान, योग और सत्संग जैसी प्राचीन आध्यात्मिक प्रथाएँ अब बाज़ार में बिकती हैं। सच्चा साधक अक्सर महंगा पड़ता है, जबकि धनवान "प्रीमियम" अनुभव प्राप्त करते हैं। सोशल मीडिया इसे बढ़ाता है, गहन शिक्षाओं को केवल हैशटैग, वायरल वीडियो या मनोरंजन में बदल देता है। गुरु अक्सर ज्ञान की गहराई से नहीं बल्कि अनुयायियों और दृश्यता से मापे जाते हैं।

धर्म के अनुसार पुनर्संरेखण: धार्मिक और दान-सेवा संस्थाओं को **वित्तीय मामलों में पारदर्शिता** बहाल करनी होगी, यह सुनिश्चित करते हुए कि दान वास्तव में जरूरतमंदों तक पहुंचे। संस्थाओं के नेताओं के लिए विलासिता की जीवनशैली समाप्त होनी चाहिए और विश्वास का कभी व्यापार नहीं होना चाहिए। आध्यात्मिक मार्गदर्शन निःशुल्क और सेवा पर आधारित होना चाहिए। संस्थाओं को केवल सामाजिक भलाई के लिए सरकार और कॉर्पोरेट क्षेत्र के साथ सहयोग करना चाहिए।

मुख्य ध्यान **निःस्वार्थ सेवा, आंतरिक परिवर्तन और समाज के उत्थान** पर होना चाहिए।

तीनों स्तंभों के लिए मार्ग: समाज केवल तभी फल-फूल सकता है जब ये तीनों क्षेत्र **धर्म के अनुसार** कार्य करें। सरकारें शासन को पवित्र ट्रस्ट के रूप में देखें और संसाधनों का उपयोग सभी नागरिकों के कल्याण के लिए करें। कॉर्पोरेट क्षेत्र को धन को सेवा का साधन मानना चाहिए, न्यायसंगत मूल्य निर्धारण, गुणवत्ता और लाभ का नैतिक उपयोग सुनिश्चित करना चाहिए। धार्मिक और दान-सेवा संस्थाएँ विश्वास को व्यावसायिकीकरण से बचाएं, संसाधनों का पारदर्शी उपयोग करें और जरूरतमंदों के कल्याण के लिए काम करें।

नागरिकों के लिए चेतावनी: अंधविश्वास, बिना जांच के सत्ता या धन और शक्ति पर अंधविश्वास गंभीर जोखिम पैदा करता है। नागरिकों को सरकार, कॉर्पोरेट संस्थाओं और धार्मिक संस्थाओं के साथ जुड़ते समय विवेकपूर्ण होना चाहिए। जागरूकता, सतर्कता और जवाबदेही आवश्यक हैं ताकि शोषण से बचा जा सके और व्यक्तिगत एवं सामूहिक योगदान—चाहे वह कर, दान या सहभागिता हो—सच्चाई में मानव कल्याण में उपयोग हो। विश्वास, निष्ठा या निवेश कभी अंधा नहीं होना चाहिए; विवेकी नागरिक **क्रियाओं, इरादों और परिणामों** का मूल्यांकन करता है।

केवल जब जनता तीनों स्तंभों से **ईमानदारी, पारदर्शिता और सेवा** की माँग करेगी, तभी समाज **संतुलन, न्याय और मानव गरिमा** प्राप्त कर सकेगा। धर्म मानक है; इससे विचलन शोषण, असमानता और नैतिक पतन लाता है। **नैतिक शासन, जिम्मेदार उद्यम और**

वास्तविक आध्यात्मिक सेवा का पुनरुद्धार केवल वांछनीय नहीं बल्कि समाज के अस्तित्व और समृद्धि के लिए अनिवार्य है।

7. उपसंहार: भक्त का धर्म

जैसे ही इस पुस्तक के अंतिम पृष्ठ शांति में समाहित होते हैं, एक गहरी पुकार उठती है—बुद्धि के लिए नहीं, बल्कि उन लोगों के विवेक के लिए जो **भक्ति और सेवा के मार्ग पर चलते हैं।** यह आह्वान उन साधकों, अनुयायियों और विशेष रूप से **सेवादारों** के लिए है, जो भारत के आध्यात्मिक और दान-सेवा संस्थानों में सेवा कर रहे हैं।

भक्त होने का अर्थ है अपना हृदय अर्पित करना; सेवादार होने का अर्थ है अपने हाथ, मन और नैतिक विवेक को अर्पित करना। फिर भी, दान-सेवा क्षेत्र के कई कोनों में **धर्म की ज्योति** रीतियों, पदानुक्रम और संस्थागत सुविधा के परतों के नीचे मंद पड़ती है। भगवद्गीता हमें अंधाधुंध आज्ञापालन के लिए नहीं कहती—यह हमें **सचेत और जागरूक कर्म** के लिए प्रेरित करती है। सच्ची भक्ति निष्क्रिय नहीं होती; यह सतर्क, विवेकी और धर्म के अनुरूप होती है।

भक्ति कभी अंधी नहीं होनी चाहिए। श्रद्धा में दी गई भेंट **सच्चे उत्थान के लिए** होनी चाहिए—भूखों को खिलाना, गरीबों को शिक्षा देना, रोगियों को उपचार देना—ना कि भव्यता, प्रदर्शन या संस्थागत प्रतिष्ठा के लिए। भक्त का धर्म केवल पालन करने का नहीं, बल्कि **संस्थान की नैतिक दिशा को बनाए रखना** है—जागरूकता, विवेक और साहसी सत्य के माध्यम से।

प्रशासन में सेवादारों के लिए, आपका कार्य पवित्र है। आप धन के प्रबंधक नहीं हैं—आप लोगों के विश्वास के अभिभावक और गुरु की विरासत के संरक्षक हैं। हर रूपया, हर निर्णय, और हर नीति में **निष्काम कर्म** (परिणाम की आसक्ति रहित कर्म) और **दैवी सम्पद** (ईमानदारी, विनम्रता और करुणा जैसी दिव्य गुण) का पालन होना चाहिए। जब संस्थाएँ **परधर्म** (अन्य का धर्म) करती हैं, तो वे पतन और भ्रष्टाचार को आमंत्रित करती हैं। लेकिन जब सेवादार अपने **स्वधर्म** (पारदर्शी प्रशासन, निष्पक्ष सेवा और नैतिक संरक्षण) में लौटते हैं, तो वे **दैवी इच्छा के उपकरण** बन जाते हैं।

आपकी सेवा केवल रीति में नहीं, बल्कि **धर्म के अनुरूप उज्ज्वल** हो। आपकी सतर्कता भक्ति का रूप हो। और आपका नेतृत्व धर्म के क्रियान्वयन का जीवंत उदाहरण हो—जहाँ विश्वास और जवाबदेही मिलकर सेवा को पुनः पवित्र बनाते हैं।

यह उपसंहार **समाप्ति नहीं**, बल्कि **प्रारंभ** है। यह जागने, पुनः संरेखित होने और स्पष्टता, साहस और करुणा के साथ सेवा करने का आह्वान है। प्रत्येक भक्त **सतर्क नागरिक** बने। प्रत्येक सेवादार **धर्म का रक्षक** बने। और प्रत्येक संस्था **सत्य, न्याय और निःस्वार्थ प्रेम का धाम** बने।